जैनदर्शन का आदिकाल

□ श्री दलसुखभाई मालवणिया
[निदेशक—ला० द० भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद]

□

जैन आगमों में सर्वाधिक प्राचीन आगम यदि कोई है तो वह आचारांग है और उसका भी प्रथम श्रुतस्कन्ध प्राचीनतम है। विद्वानों ने उसका समय ई० पू० तीसरी-चौथी शती माना है; अतएव जैनदर्शन का प्राचीनतम रूप देखना हो तो इसका अध्ययन जरूरी है। उसमें नवतत्त्व या सात तत्त्व स्थिर नहीं हुए किन्तु उसकी भूमिका तो बन रही है ऐसा स्पष्ट प्रतीत होता है। पञ्चास्तिकाय या षट्द्रव्य का सिद्धान्त तो इसमें कहीं भी दृष्टिगोचर नहीं होता है अतः यह मानना पड़ता है कि प्रथम स्थान जैनदर्शन में नव या सात तत्त्वों की विचारणा से मिला है और उसके बाद पञ्चास्तिकाय और षट्द्रव्य की विचारणा हुई है। प्राचीनतम ऐसे जैनागम आचारांग में दार्शनिक भूमिका कैसी है यह देख लेना उचित इसलिए होगा कि जैन दार्शनिक चर्चा की आगमिक भूमिका जो व्यवस्थित हुई उसका प्रारूप क्या था यह जाना जा सकता है।

आचारांग जैसा कि उसके नाम से ही सूचित होता है कि भिक्षु के आचार का निरूपण करने वाला ग्रन्थ है अतएव उसमें दार्शनिक चर्चा को अवकाश नहीं, फिर भी जो प्रासंगिक चर्चा है वह जैनों का दर्शन के क्षेत्र में स्थान निश्चित करने में सहायक अवश्य है।

ईसा पूर्व छठी शती में अनेक वाद प्रचलित थे उनका सामान्य रूप से निर्देश पालि पिटकों में मिलता है, उन विविध वादों में से भगवान महावीर को किस वाद का समर्थक माना जाय इसका स्पष्टीकरण आचारांग के प्रारम्भिक अंश से हो जाता है। भगवान महावीर अपने की आत्मवादी, कर्मवादी, लोकवादी और क्रियावादी के पक्ष में सूचित करते हैं और उन वादों का तात्पर्य जो उन्हें अभिप्रेत है उसका भी वहीं स्पष्टीकरण है कि जो आत्मा का जन्म-जन्मान्तर मानते हैं वही आत्मवादी आदि हो सकते हैं और आत्मा के जन्म-जन्मान्तर का आधार कर्म की मान्यता है, अतएव जो आत्मवादी है वही कर्मवादी या जो कर्मवादी है वही आत्मवादी है ऐसा समीकरण आचारांग के प्रारम्भिक अंश से फलित होता है।

भगवान महावीर आत्मवादी और कर्मवादी थे तो आचारांग में उन्होंने जो आचार का उपदेश दिया उसके साथ उस आत्मवाद और कर्मवाद का क्या सम्बन्ध है ? यह सर्वप्रथम देखना आवश्यक है।

आत्मा अपने विद्यमान जन्म के पूर्व और पश्चात् जन्म का अस्तित्व और अवस्था जाने और माने तब ही वह आयावाई—आत्मवादी, लोयावाई—लोकवादी, कम्मावाई—कर्मवादी (और प्राचीन परिभाषा में 'किरिया' शब्द का प्रयोग 'कम्म' के अर्थ में होता था, देखो—प्रज्ञापना की प्रस्तावना पद २२ की विवेचना) किरियावाई—क्रियावादी हो सकता है। इस बात को आचारांग के प्रथम वाक्य में ही इस प्रकार कहा गया है—

> तेणं भगवया एवमक्खायं इह मेगेसिं णो सण्णा भवई तं जहा—पुरात्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि ..... अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि एवमेगेसिं णो णायं भवई अत्थि मे आया उववाइए नत्थि मे आया उववाइये के अहं आसी के वा इओ चुओ इह पेच्चा भविस्सामि ? से जं पुण जाणेज्जा सहसंमइयाए परवागरणेणं अण्णेसिं अंतिए वा सोच्चा तं जहा—पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि जाव अण्णयरीओ दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि। एवमेगेसिं जं णायं भवति अत्थि मे आया उववाइए जो इमाओ दिसाओ अणुदिसाओ वा अणुसंचरइ सव्वाओ दिसाओ अणुदिसाओ सोऽहं से आयावाई लोयावाई कम्मावाई किरियावाई। —**आचारांग—१-५**

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

जब तक कर्म है, आरम्भ है, हिंसा है तब तक संसार में परिभ्रमण है, दुःख है— आचारांग —१०

यह तब रुक सकता है जब कर्म समारम्भ का परित्याग किया जाय, संसार के दुःख का प्रतिघात करने के लिए तथा जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति के लिए भगवान ने कर्म समारम्भ के परित्याग का उपदेश दिया है मुनि वही है जिसने कर्म समारम्भ का त्याग किया है। —आचा० ६, १३

अपने को अणगार संन्यासी कहनेवालों को भी जीव हिंसा कैसे होती है इसका भान नहीं होता क्योंकि उनको जीव कहाँ है और कहाँ नहीं है इसका ही पता नहीं। अतएव आचारांग के शस्त्रपरिज्ञा नामक प्रथम अध्ययन में क्रमशः पृथ्वी, उदक (जल), अग्नि, वनस्पति, त्रसकाय और वायु ये स्वयं भगवान महावीर ने अपने साधना काल में ही जाना था कि ये छहों काय "**चित्तमंत**" सजीव हैं अतएव उनकी हिंसा से वे बचकर चले थे।

—आचा० ६। १—१२, १३

छः जीवनिकाय हैं और उनकी विविध प्रकार से हिंसा मनुष्य अपने स्वार्थ की सिद्धि के लिए किस प्रकार करता है यह विस्तार से दिखाया गया है और कहा है कि—

सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिणिव्वाणं महब्भयं दुक्खंति—

—आचा० ५०

अर्थात् हिंसा के कारण सभी जीवों को जो दुःख है यही असाता है अपरिनिर्वाण है और महाभय है। इस महाभयरूप दुःख से मुक्ति पाने का एक ही उपाय है—कर्म समारम्भ—हिंसा का परित्याग अतएव सभी अर्हन्तों का तीर्थंकरों का उपदेश है—

जे अईया जेय पडुपन्ना आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सव्वे एवमाइक्खंति एवं भासंति एवं पण्णविंति एवं परूवन्ति सव्वे पाणा सव्वे भूया सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा न अज्जावेयव्वा न परिघित्तव्वा न परियावेयव्वा न उद्दवेयव्वा। एस धम्मे सुद्धे निइए समिच्च लोयं खेयण्णे पवेइए''''' —आचा० १२६।

अर्थात् किसी भी जीव की किसी भी प्रकार से हिंसा न करनी चाहिए, किसी भी प्रकार से उन्हें कष्ट नहीं देना चाहिए। आचारांग में अहिंसा धर्म के लिए तो कहा गया है कि वह नित्य है (१।२६) किन्तु पदार्थों के स्वरूप के विषय में खास कर भोग के साधन बनने वाले शरीर के लिए तो कहा है कि—

पुव्विपेयं पच्छापेयं भेउरधम्मं विद्धंसण धम्ममधुवं अणिइयं असासयं चयावइचयं विप्परिणाम-धम्मं पासह एवं रूवसंधि —आचारांग १४७

सूत्रकृतांग १, १, २, १० में भी कहा है—**विद्धंसण धम्ममेव तं इयविज्जं कोऽगारमावसे**

यह वैसा ही निरूपण है जैसा कि बौद्ध साहित्य में भी देखा जा सकता है—

सो एवं पजानतिअयं खो मे कायो रूपी चातुमहाभूतिको मातापेत्तिक संभवो ओदन कुम्मांसुपचयो अनिच्चुच्छादन परिमदनभेदन विद्धंसन धम्मो। दीघ०''''२०८५।

हिंसा क्यों नहीं करनी चाहिए उसके लिए ये दलील दी गई है—

(१) सव्वेपाणा पियाऊया सुहसाया दुक्खपडिकूला अप्पियवहा पियजीविणो जीविउं कामा सव्वेसिं जीवियं पियं। —आचा० ८०

सभी जीवों को जीना पसन्द है, सभी जीव सुखास्वादी है, दुःख से द्वेष करते हैं, अपना वध उन्हें अप्रिय है, जीवन से प्रेम करते हैं, जीने की इच्छा करते हैं अतएव उनकी हिंसा नहीं करनी चाहिए।

(२) तुमंसि नाम सच्चेव जं हंतव्वं ति मन्नसि तुमंसि नाम सच्चेव जं अज्जावेयव्वं ति मन्नसि ''''''''तम्हा न हंतव्वं न वि घायए, अणुसंवेयण मप्पाणेण जं हन्तव्वं नाभिपत्थए —आचा० १६४।

यह सारांश टीका के अनुसार है।

जिसकी हिंसा करनी है वह तुम ही हो अतएव हिंसा न करनी चाहिए क्योंकि आत्मौपम्यकी [इसके लिए **समया** (समता) शब्द आचारांग में हैं (१०६, ११६) उसी के आधार पर सामाइय की कल्पना हुई है जिसका स्वरूप

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सूत्रकृतांग (१, २, २, २०) में दिखाकर कहा गया है कि यह "ज्ञातृ" का अपूर्व उपदेश है (१, २, २, ३१)] दृष्टि से देखने पर दुःख जैसा मुझे अप्रिय है, सभी जीवों को अप्रिय है, हिंसा का परित्याग ही श्रेयस्कर होता है, यही नहीं किन्तु अभी जो दूसरे को दुःख दिया वैसा ही दुःख उस कर्म के कारण अपने को भी मिलेगा ऐसा समझ कर भी हिंसा का त्याग करना जरूरी है।

इसका तात्पर्य यह भी हो सकता है कि जब भी जीव हिंसा का संकल्प करता है तो अन्य जीव मरे या न मरे किन्तु अपनी आत्मा तो कषाय युक्त हुई अतएव अपनी आत्मा की तो हिंसा हो ही गयी।

(३) आवंती केयावंती लोयंसी समणा य महाणा य पुढ़ो विवायं वयंति-से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वाओ सुपडिलेहियं च णे सव्वे पाणा सव्वे जीवा · · · हन्तव्वा इत्थ विजाण नत्थित्थ दोसो अणायरियवयणमेयं तत्थ जे आरिया ते एवं वयासी · · · वयं पुण एवं माइक्खमो एवं भासामो · · · सव्वे पाणा न हन्तव्वा पुव्वं निकायं समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हं भो पवाइया ! किं भे सायं दुक्खं असायं ? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खंति —आचारांग १३३।

सार यह है कि कुछ श्रमण-ब्राह्मण यह कहते हैं कि सब जीव की हिंसा करनी चाहिए इसमें कोई दोष नहीं किन्तु उनका यह कथन अनार्यवचन है। आर्य तो यही कहते हैं कि किसी की भी हिंसा नहीं करनी चाहिए, हिंसा के समर्थकों से पूछा जाय कि क्या तुम्हें दुःख प्रिय लगता है या अप्रिय ? तो परिणाम यही निकलता है कि दुःख तो सभी के लिए महाभयरूप होता है अप्रिय होता है। अतएव हिंसा नहीं करना यही आर्य सिद्धान्त है।

आत्मवादी का किया हुआ जीवों का पृथ्वी, उदक, अग्नि, वनस्पति, त्रस और वायु इन छह काय में विभाजन तो है ही इस क्रम से आचारांग के प्रथम अध्ययन में इन छः कायों की हिंसा न करने का उपदेश है। अन्य प्रकार से भी जीवों का विभाजन आचारांग में देखा जाता है।

पुढविं च आउकायं च तेऊ कायं च वाऊकायं च।
पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च सव्वेसिं नच्चा ।।
एयाइं सन्ति पडिलेहे चित्तमंताइ········। —आचारांग ६, १, १२, १३ (गाथा)

इसमें पृथ्वी आदि चार वनस्पति के तीन भेद और त्रसकाय इस प्रकार आठ प्रकार के जीव भेदों का वर्णन है। अन्यत्र त्रस के अण्डज, पोतज, जरायुज, रसज, संस्वेदज, संमुर्च्छिम, उद्भिज और उपपातज ऐसे भेद निर्दिष्ट हैं। —आचारांग ४८।

इन जीवों में वनस्पतिकाय सजीव है, इसके लिए दलील दी गयी है कि—

से बेमि इमंपि जाईधम्मयं एवंपि जाई धम्मयं इमं पि बुड्ढी धम्मयं एयं पि बुड्ढी धम्मयं इमंपि चित्तमंतयं एयं पि चित्तमंतयं इमंपि छिण्णं मिलाई एयंपि छिण्णं मिलाइ इमंपि आहारगं एयं पि आहारगं इमंपि अणिच्चयं एयं पि अणिच्चयं इमंपि असासयं एयंपि असासयं इमंपि चओवचइयं एयंपि चओवचइयं इमं विप्परिणामधम्मयं एयंपि विप्परिणामधम्मयं। —आचारांग ४६

जिस तरह यह (शरीर) जन्म लेता है वृद्धि को प्राप्त होत है, सचित्त है छिन्न होने पर भी रुक्ष जाता है, आहार की आवश्यकता वाला है अनित्य है, अशाश्वत है चयोपचय वाला है, विपरिणामधर्मी है। उसी प्रकार वनस्पति भी जन्म आदि लेती है अतएव हमारे शरीर की तरह वह भी सजीव, सचित्त है।

प्रस्तुत में जीव (चेतन) अर्थ में चित्त शब्द का प्रयोग हुआ है। सूत्रकृतांग (१, १, १, २) में भी सजीव निर्जीव अर्थ में 'चित्तमन्तमचित्त'' देखा जाता है।

अतएव जहाँ चित्त है वह सजीव होना चाहिए यह फलित होता है, चित्त का अर्थ चैतन्य अभिप्रेत है। जन्मस्मरण का संसार का जिसने निराकरण कर दिया है अतएव जो मुक्त होता है उसके विषय में कहा है—

सव्वे सरा नियट्टंति तक्का जत्थ न विज्जई, मइ तत्थ न गहिया ओए अप्पईठाणस्स खेयन्ने से न दीहे न हस्से व वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमण्डले न किन्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किले न सुरभिगन्धे, न दुरभिगन्धे न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कक्खडे न मउए न गरूए न लहुए न उण्हे न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रूहे न संगे न इत्थि न पुरिसे न अन्नहा परिन्ने सन्ने उपमा न विज्जए अरुवी सत्ता अपयस्स पयं नत्थि —आचारांग १७।

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

सारांश यह है कि किसी भी भौतिक वर्णन का विषय मुक्त आत्मा नहीं, तर्क से वह परे है और सामान्य-जन की मति से भी वह परे है, उपनिषदों में ब्रह्म को जिस प्रकार नेति-नेति कहकर बताया वैसा ही यह स्वरूप है (विशेष विवरण के लिए आगम युग का जैनदर्शन (६५) देखना चाहिए।) हाँ, एक बात विशेष ध्यान देने योग्य है वह यह कि आत्मा को ह्रस्व या दीर्घ नहीं बताया गया, किन्तु आगे चलकर शरीरपरिणामी आत्मा का सिद्धान्त स्थिर हुआ तब वह वैसा माना गया। आत्मा के लिए आत्म शब्द के उपरान्त प्राण भूत जीव चित्त चेतन और चित्तमन्त 'अचित्त' और 'अचेयण' ऐसे प्रयोगों के आधार से और सत्त्व, जन्तु इन शब्दों का प्रयोग देखा जाता है।

—आचा० १, ४६, ५०, १७८, १६४, ८८, १५

आत्मा के स्वरूप के विषय में आचारांग का यह वाक्य भी ध्यान देने योग्य है—

जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया। जेण विजाणई से आया, तं पडुच्च पडिसंखाए एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए— —आचा० १६५

इसमें आत्मा की विज्ञाता रूप से पहचान कराई गयी है। इतना ही नहीं किन्तु ज्ञान और आत्मा एक ही है—यह भी कहा गया है। चक्षु आदि पाँच इन्द्रियाँ और उनके विषय रूपादि का निर्देश आचारांग में कई बार आता है तथा तज्जन्यज्ञान-परिज्ञान का भी उल्लेख है—(आचारांग—१६, ४१, ६३, ७१, १०६)। इतना ही नहीं, चक्षु आदि इन्द्रियों की विकृति के कारण जो अन्धत्वादि होते हैं उनका भी निर्देश देखा जाता है—(आचारांग ७८) किन्तु ये सभी निर्देश उनकी व्यवस्था के प्रसंग में न होकर संसार की दोषमयता दिखाने के प्रसंग में हैं।

आचारांग में ज्ञानचर्चा स्वतन्त्र रूप से नहीं किन्तु प्रासंगिक प्रयोग आते हैं वे ये हैं—

जाणइ पासई (आचा० ७५, १६६) नाणभट्टा, दंसणलूसिणो (आचा० १९०) अभिन्नायदंसणे।
—आचा० ६, १, ११ (गाथा)

अणेलिसन्नाणि	—आचा० ६, १, १६
नाणी····जोगं च सव्वसो णच्चा	—आचा० ६, १, १६
कुसलस्स दंसणं	—आचा० १६६
वीरासम्मत्तदंसिणो	—आचा० १५५
सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं	—आचा० १५५
आघई नाणी	—आचा० १३१
एगेवयंति अदुवावि नाणी नाणी वयंति अदुवावि एगे	—आचा० १३२
से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे	—आचा० १३३
दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं	—आचा० १२८
वीरे आगमेण सया परक्कमे	—आचा० १६८, १६३
पासगस्सदंसणं	—आचा० १२१, १२५
किमत्थि उवाहि पासगस्स	—आचा० १२५
जे कोहदंसी से माणदंसी जे मारदंसी से नरयदंसी	—आचा० १२५
जे एगं जाणई से सव्वं जाणई	—आचा० १२२
दुक्खं लोगस्स जाणित्ता	—आचा० १२३
उद्देसो पासगस्स नत्थि	—आचा० ८१
से भिक्खू कालन्ने बालन्ने ससमय-परसमयन्ने	—आचा० ८८
आययचक्खू लोग विप्पस्सी लोगस्स अहोभागं जाणई उड्ढं भागं जाणई	—आचा० ९३

जाणेज्जा सहसम्मुइयाए परवागरणेणं अन्तेसिं वा अन्तिए सोच्चा
—आचा० ४, १६७, २०३

सोच्चा खलु भगवओ अणगाराणं वा अन्तिए इहमेसिं नायं भवई एस खलु गन्थे
—आचा० १६, इत्यादि

इन प्रयोगों के आधार से एक बात तो स्पष्ट होती है कि आचारांग प्रथम श्रुतस्कन्ध में जिसप्रकार की पाँच ज्ञान की प्रक्रिया नन्दीसूत्र में व्यवस्थित रूप से और परिभाषाबद्ध रूप में दिखाई देती है वह इन प्रयोगों में देखी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं जाती। मनःपर्याय या अवधिज्ञान की कोई सूचना इसमें नहीं है। मति और श्रुतज्ञानों की सूचना है। श्रुत के लिए आगम भी प्रयुक्त है। केवलज्ञान या केवली शब्द का प्रयोग भी नहीं मिलता। "**आकेवलिएहिं**" ऐसा कामों का विशेषण है। टीकाकार ने उसका अर्थ "**सद्वन्द्वाः स प्रतिपक्षा इति यावत्**" किया है—पृष्ठ २४१। उसकी सूचना **अणेलिसन्नाणी, नाणीजोगं च सव्वसो णच्चा, सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं**—जैसे शब्दों द्वारा मिलती है। किन्तु पारिभाषिक शब्द का निर्माण अभी नहीं हुआ है, यह स्पष्ट है। सामान्य लोक में जो तीन प्रकार के जानने के उपाय ज्ञात थे उन्हीं तीन प्रकारों का निर्देश—दृष्ट, मत, श्रुत के रूप में **दिट्ठंमयंसुयं** जैसे शब्दों द्वारा है। ये वही ज्ञान है जो आगे चलकर दार्शनिकों में तीन प्रमाण का रूप ले लेते हैं। **दिट्ठं**—प्रत्यक्ष, **मतं**—अनुमान और **सुयं**—आगम। "**आगम**" शब्द भी प्रयुक्त है। "**जाणई पासई**" यह प्राचीनतम रूप है जिसमें दर्शन और ज्ञान इन दो प्रकार के उपायों का निर्देश है। चक्षु से देखा गया दर्शन प्रत्यक्ष है और चक्षु से अतिरिक्त उपाय से जो जाना जाय वह 'ज्ञान'। आगे स्पष्ट हुआ कि यह ज्ञान अपनी बुद्धि से सोचकर कार्यकारण भाव को जानकर (अनुमान) या अन्य किसी से सुनकर (श्रुत-आगम) होता है। अतएव मति और श्रुत (आगम) माने गये। मति ही अनुमान का रूप ले लेती है और श्रुत आगम का। इस प्रकार लोक में **दिट्ठंमयंसुयं** ये तीन उपाय तीन प्रमाण बन गये—प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। किन्तु बाद में जैन आगमों की ज्ञान प्रक्रिया में प्रमाण के स्थान में पाँच ज्ञानों की ही चर्चा होने लगी और परिभाषा उन्हीं की स्थिर हुई और प्रमाणों का उल्लेख तो प्रासंगिक रूप से हुआ। जैन परिभाषा जब स्थिर हुई तब भी दर्शनों में चक्षुदर्शन को तो स्थान मिला ही किन्तु बाकी की इन्द्रियों के द्वारा ज्ञान की सूचना अचक्षुदर्शन शब्द द्वारा दी गयी। अवधिदर्शन मानने का कारण यह जान पड़ता है कि वह रूपी पदार्थ का होता है और रूप ज्ञान के साथ दर्शन शब्द की योजना मूल में थी। मनःपर्याय में दर्शन इसलिए नहीं है कि मूलतः वह ज्ञान मनोगत भावों को जानने के लिए कल्पित किया गया था। किन्तु बाद में मन का स्वरूप जब पौद्गलिक स्थिर हुआ तो उसे भी रूपी का ज्ञान माना जाने लगा किन्तु एक बार उसमें दर्शन का निषेध हो जाने के बाद मनःपर्याय दर्शन माना नहीं जा सकता था।

यह स्पष्ट है कि आचारांग में ज्ञानचर्चा की भूमिका परिभाषाबद्ध नहीं है। किन्तु सर्वसाधारण के व्यवहारों के अनुकूल है, इसी से आचारांग की प्राचीनता सिद्ध है। ज्ञानचर्चा क्रमिक रूप से परिभाषाबद्ध होती गयी जो प्रारम्भ में नहीं थी। यह भी सूचना इसी से हो जाती है।

आचारांग में परिनिर्वाण, निर्वाण, निःश्रेयस, प्रमोक्ष, मोक्ष या मुक्ति की चर्चा तो है किन्तु मुक्ति का स्वरूप क्या है, वह कहाँ किस स्थान में होती है इसकी परिभाषाबद्ध कोई सूचना उसमें नहीं मिलती। यही कारण है कि अनेक शब्दों के द्वारा एक ही बात को कहना पड़ा है। इतना तो निश्चित है कि मुक्ति किसी बन्धन से छुटकारा पाना है, और संसार में गृहस्थाश्रम से बढ़कर कोई बन्धन नहीं। क्रोधादि दोषों से भी मुक्ति पाने की चर्चा है, कर्म रूप उपाधि से भी मुक्ति पाने का उपदेश है।

जब तक जीव मुक्त नहीं होता तब तक कर्मजन्य उपाधि से सहित होता है।

कम्मुणा उवाही जायई—(आचा० १०९) यह तो कहा किन्तु जीव के कितने प्रकार के शरीर होते हैं यह नहीं कहा गया। हाँ मुक्ति के लिए—**धुणेकम्म सरीरगं** (आचा० ९९, १५५)। टीका और चूर्णिगत पाठ सू० १५५, में "**धूणे सरीरगं**" ऐसा है, किन्तु डा० शुब्रींग की आवृत्ति में यह पाठ है ५, ३, ५ जो छन्द की दृष्टि से उपयुक्त जँचता है। और सूत्रगत पाठ से (९९) समर्थन भी होता है। इससे उस कर्मजन्य उपाधि को कर्म शरीर ऐसा नाम अभिप्रेत हो यह सम्भव है। सभी प्रकार के शरीरों के लिए यह सामान्य नाम दिया गया हो यह भी सम्भव है। क्योंकि स्वयं कर्म और कर्मजन्य को 'कर्म' शब्द का प्रतिपाद्य मानने में कोई बाधा नहीं।

लोक की कल्पना अवश्य थी। आचारांग के द्वितीय अध्ययन का नाम ही '**लोगविजय**' है तथा पाँचवें अध्ययन का नाम '**लोगसार**' है। और उसके बीच अर्थात् तिर्यग् लोग में मनुष्य रहता है यह भी स्थिर मान्यता हो गयी थी। अतः लोक के '**अहोभाग**' और '**उड्ढभाग**' (आचा० ९३) के जानने की बात कही गई है। तथा '**आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहोभागं जाणई उड्ढभागं जाणई तिरियं भागं जाणई**' (आचा० ९३) **उड्ढं अहेय तिरियं च लोए झायई समाहिय पडिन्ने** (आचा० ९, ४, १४ शुब्रींग)।

लोक के तीनों भागों को जानने का निर्देश है, लोक के अलावा अलोक की कल्पना भी देखी जाती है। किन्तु लोक के अग्रभाग में लोक-अलोक के सन्धिस्थल में सिद्धि स्थान था—ऐसा कोई विचार आचारांग में दिखता नहीं, इसके

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

विपरीत—**पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओमुच्चई** (आचारांग १२०) अर्थात् देखो कि यह योग्य पुरुष लोक और अलोक के प्रपंच से मुक्त हो जाता है। ऐसा आचारांग में निर्देश है। इससे स्पष्ट है कि आगे चलकर जो लोक और अलोक की परिभाषा स्थिर हुई वह आचारांग में दिखती नहीं। टीकाकार को इसकी व्याख्या करने में कठिनाई भी हुई है—(आचा० टीका, पृ० १७०)

मुक्तिमार्ग की चर्चा अवश्य है किन्तु तत्त्वार्थ सूत्र में जिस प्रकार दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मुक्ति का मार्ग कहा गया और जो इस परिभाषा को आगे के सभी जैनदार्शनिकों ने मान्य रखा उसका अव्यवस्थित पूर्व रूप आचारांग में है।

कहीं एकत्व इन तीनों को मुक्तिमार्ग नहीं कहा गया। **एसमग्गो अरिएहिं पवेइए उट्ठिए नो पमायए**—(आचा० १४६) में अप्रमाद को मार्ग बताया गया है तो अन्यत्र **अरइं आउट्टे से मेहावी खणंसि मुक्के**—(आचा० ७२) कहकर अरति के निवारण को=**विमुत्ता हु ते जणा पारगामिणो लोभमलोभेण दुगुंच्छमाणे लद्धे कामे नाभिगहई** (आचा० ७४) में अलोभ को दण्डसमारम्भ से विरति अर्थात् अहिंसा को "**एस मग्गे अरिएहिं पवेइए** (आचा० ७६) कहा है। "**एसमग्गे आरिएहिं पवेइए** (आचा० ९१) में अपरिग्रह को। इसी अपरिग्रह का महत्त्व दिखाते हुए यह भी कहा गया है कि ब्रह्मचर्य भी अपरिग्रही में ही हो सकता है। और ब्रह्मचर्य में ही बन्धन से मुक्ति दिलाने का सामर्थ्य है।

—(आचा० १५०)

अविज्जाए पलिमोक्खं—(आचा० १४५)—में अविद्या से मोक्ष मानने वालों का निराकरण किया गया है, अतएव विद्या भी एक मोक्ष का उपाय सिद्ध होता है। अच्छे कुल में जन्म लेकर यदि 'रूप' में आसक्त हो जाते हैं तो मोक्ष नहीं मिलता यह भी निर्दिष्ट है (आचा० १७२) तत्त्वार्थसूत्र में मोक्ष के तीन उपायों की चर्चा है। उसमें सर्वप्रथम "दर्शन" को उपाय रूप से बताया है और दर्शन शब्द का अर्थ श्रद्धा किया गया है। आचारांग में श्रद्धा (आचा० १९) का निर्देश मिलता है। किन्तु उस श्रद्धा का आधार जिनों की आज्ञा है। उन्होंने जो कुछ कहा है वही सत्य और निःशङ्क है। ऐसी श्रद्धा पर भार दिया है।

सड्ढीआणाए मेहावी —आचा० १२४
लोगं च आणाए अभिसमेच्चा —आचा० २१, १२४
तमेवसच्चं निःसंकं जं जिणेहिं पवेइयं —आचा० १६२

संसार की वृद्धि करने वाले दोषों की गणना या सूची आचारांग में दी गयी है वह भी ध्यान देने योग्य है। इन दोषों से मुक्ति पा लेना ही मोक्ष या निर्वाण या सिद्धि है। —आचा० १२१, १२५, १४५

कोह, माण, माया, लोभ, पेज्ज, दोस, मोह, अन्नाण, पमाय इत्यादि दोषों की गणना में कोह से लेकर लोभ तक की तथा मोह तक की सूचियाँ मिलती हैं। यही आगे चलकर कर्मशास्त्र में व्यवस्थित रूप ले लेती हैं।

जो शब्द जैनों के लिए आगे चलकर पारिभाषिक बन गए हैं, वैसे कुछ शब्दों का संकलन यहाँ करना जरूरी है। यह ध्यान में रखनी चाहिए कि इन शब्दों की व्याख्या आचारांग में नहीं है। किन्तु उनका प्रयोग हुआ है। ये ही शब्द थे जिनको लेकर जैन-दर्शन की प्रमाण-प्रमेय व्यवस्था तथा संसार और मोक्ष की चर्चा की गई है। जिनके विषय में इतः पूर्व चर्चा हो चुकी है उनको इस सूची में स्थान नहीं दिया है। **अज्जव, अरहन्त, आसव, उवसम, ओववाइय, कसाय, काल, खय, गइ, गब्भ, गुत्ति, चवण, जिण, जोग।**

कायं च जोगं च इरियं च —(आचा० २२६)

यह प्रयोग ऐसा है जो यह बताता है कि अभी जोग की परिभाषा स्थिर नहीं हुई थी।

जोणी, झाण, दंड, तक्क, तच्च, तहागय, दविय, निज्जरा, पज्जव, परिसह, पुण्ण, बंध, बोहि, मरण, मोह, लेस्सा, विपरिणाम, विपरियास, सम्मत।

इनके प्रयोग स्थान के लिए डॉ० शूब्रिंग सम्पादित आचारांग की शब्द सूची देखें।

इत्यादि कुछ शब्द ऐसे हैं जिनको लेकर आगे चल कर काफी चर्चा हुई है और परिभाषा की गई है।

इस प्रकार आचारांग में दर्शनशास्त्रीय एवं भाषा वैज्ञानिक अध्ययन के मूलभूत अनेक तत्त्व विद्यमान हैं, जिनके आधार पर जैन-दर्शन के आदिकाल की रूपरेखा स्पष्ट समझी जा सकती है। आवश्यकता है, गम्भीरतापूर्वक अध्यवसाय के साथ अनुशीलन करने की। □□

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org